Dr. Sudhir Kumar Singh

Principal

Rohtas Mahila college

Sasaram

Sociology UG Notes

B.A.,(Hons.) Part 1

Paper 1st -Samajhshastra k Siddhant

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा, परिभाषा और विशेषताएँ

मनुष्य को इस धरती पर रहते हुए कोई 5 लाख से अधिक वर्ष हो गये है। कृषि और आवास उसके जीवन के साथ कोई 10-12 हजार वर्ष हजार वर्ष पहले जुड़े है। इतिहासकारों की अटकल है कि दुनिया में सभ्यता का सूत्रपात कोई 6 हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं हैं। आज जब सामाजिक परिवर्तन का मूल्याकंन किया जाता है तो इसे तकनीकी विकास के साथ जोड़ा जाता है। तकनीकी विकास कोयले और बिजली के बाद आज के सूचना युग में तीव्रतम हो गया है। कम्पयूटर सूचनाओं का संग्रहित करने का एक बहुत बड़ा यांत्रिक साधन है। इस वैज्ञानिक आयाम को ध्यान में रखते हुए सामाजिक परिवर्तन का सैद्धान्तिमक विशलेषण किया जाना चाहिए।

सामाजिक परिवर्तन की सैद्धान्तिमक व्याख्या पहले समाजशास्त्र के जनक विचारकों ने की थी। शायद सबसे पहले ई. 1893 में दुर्ख्ीम ने श्रम विभाजन की व्याख्या में सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख किया था। दुख्र्ाीम ने पूर्व औद्योगिक समाज की तुलना औद्योगिकरण समाज से की। पूर्व औद्योगिकरण समाजों में सामाजिक स्तरीकरण किसी भी अर्थ में चौकने वाला नहीं था। औद्योगिक समाज में स्तरीकरण अधिक तीव्र हो गया।

इस समाज में मानदण्ड एंव मूल्यों में भी परिवर्तन आ गया। दुख्र्ाीम की पदावली में पूर्व औद्योगिक समाज वस्तुत: यांत्रिक समाज थ्ज्ञा। जब इस समाज का उद्विकास सावयवी समाज में हुआ तक परिवर्तन की गति तीव्र हो गयी। इस परिवर्तन का मूल्याकंन दुख्र्ाीम ने किया है। औद्योगिकरण समाज में जो परिवर्तन देखने को मिलता है वह समानता पर आधारित नहीं है, विभिन्नता या स्तरीकरण पर आधारित है।

कार्ल माक्र्स ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या और संदर्श में की है। उन्होंने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का कारण वर्ग संघर्ष हैं मेक्स वेबर भी सामाजिक परिवर्तक की व्याख्या वर्ग के संदर्श में करते है। सामाजिक परिवर्तन को सामान्यता प्रमुख विचारकों ने दी दृष्टियों से देखा है : (1) इतिहासवादी व्याख्या और (2) उद्विकासवादी व्याख्या। यहां हम दोनों दृष्टिकोणों को देखेंगे। वास्तविकता यह है कि विचारकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के अलग-अलग सोपान है। इन लेखकों के चिन्तन में परिवर्तन, उद्विकास, तथा प्रगति की अवधारणाएं एक दूसरे से मिली हुई है। सच्चाई यह है कि ये विचारक इन तीन अवधारणाओं (सामाजिक परिवर्तन, उद्विकास एवं प्रगति) को बहुत स्पष्ट रूप से समझा नहीं पाये है।

इतिहासवादी व्याख्या

इतिहासवीदी व्याख्या में सामान्यतया हीगेल एवं माक्र्स की चर्चा की जाती है। हीगेल वास्तव में एक परिपक्व दार्शनिक थे। इसके अनुसार इतिहास में परिवर्तन चेतना के कारण आता हैं सामाजिक परिवर्तन के विचार, परस्पर विरोधी विचार और उनके समन्यव के तीन सोपान हेाते है। हीगेल की यह व्याख्या विचारों को केन्द्र मानकर चलती है। कार्ल माक्र्स का संदर्श दूसरा है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी के संदर्भ में की है। इनके अनुसार उत्पादन साधनों और सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ समाज इतिहास के एक काल खण्ड से दूसरे काल खण्ड की ओर बढ़ता है।

उद्विकासवादी व्याख्या

उद्विकासवादी व्याख्या करने वाले विचारकों में कॉम्प, स्पेन्सर, दुख्र्ाीम, सोरोकीन मारग्रेट कीड़ के नाम विशेष रूप से उल्लेखीय है। विचारकों की इस श्रेणी में जहां तक संस्कृति का प्रश्न है। टाइलर ने प्रीमिटीव कल्वर में उद्विकीसीय दृष्टिकोण को भली प्रकार रखा है। उद्विकासवादी विचारकों का कहना है कि विवाह, नातेदारी, राज्य सरकार आदि सामाजिक संस्थाओं के उद्विकास सामान्य गति से होने वाले परिवर्तन का परिणाम है। यहां हम केवल इसी तथ्य पर जोर देना चाहते है कि सामाजिक परिवर्तन के अलग-अलग सोपान है और इन सोपानों की व्याख्या उद्विकास तथा प्रगति के माध्यम की गयी है। टी.बी. बोटोमोर जैसे विचारकों ने तो सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या केवल उद्विकास, प्रगति तथा विकास के संदर्भ में ही की हैं इस अध्याय में आगे चलकर हम तीनों अवधारणों की विशद् व्याख्या करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएँ

समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करने के स्थान पर प्राय: इनके लक्षणों और कारकों का वर्णन किया गया है। कुछ लेखकों की राय में सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत अनेक तरह की सामाजिक समस्याएं सम्मिलित की गयी है। इसका अर्थ समूह अथवा समाज के व्यवहार में किसी भी प्रकार के बदलाव से है। कुछ के विचार में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक सरंचना और सांस्कृतिक विशेषताओं अथवा दोनों में टिकाऊ बदलाव से है। इन परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि सामाजिक परिवर्तन मुख्य रूप से समाज के तीन पक्षों को प्रभावित करता है –

समूह के व्यवहार में परिवर्तन

सामाजिक संरचना में परिवर्तन, और

सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन

जब हम सामाजिक परिवर्तन की किसी भी प्रक्रिया में परिवर्तन की बात करते है तो हमारा तात्पर्य उपरोक्त तीन पक्षों में आने वाले बदलाव से हैं।

ऊपर हमने सामाजिक परिवर्तन की जो व्याख्या की है, निश्चित रूप से यह बहुत अस्पष्ट हैं एंथोनी गिडेन्स ने सामाजिक परिवर्तनक की परिभाषा देने से पहले एक सुस्पष्ट प्रश्न रखा है : हमें सामाजिक परिवर्तन को कैसे परिभाषित करना चाहिये? निश्चित रूप से प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन निश्चित सीमा में होता है। देखा जाये तो दार्शनिक लहले में, प्रत्येक दिन हर व्यक्ति के लिये नया होता है और इस अर्थ में प्रत्येक क्षण नया होता है। यूनानी दार्शनिक हेरिाक्ल्लट्स का यह कहना सही हैकि एक व्यक्ति कभी भी एक ही नदी में दो बार डुबकी नहीं लगा सकता। उसके लिये ऐसा कर सकना दो कारणों से असंभव है। पहला तो यह कि दूसरी बार डुबकी लगाते समय व्यक्ति पहली बार जैसा नहीं रहता। उसके विचार, दृष्टिकोण

आदि बदल जाते है और दूसरा यह है कि स्वयं नदी कापानी भी प्रवाहमान है जो पानी बह गया, वह बह गया, वापस नहीं आता। वस्तुत: और नदी दोनों ही बदल जाते है। हेरिाक्ट्स के इस दर्शन का केन्द्र यही है कि संसार में प्रत्येक यर्थात वस्तुत बदलती रहती है परिवर्तन सृष्टि का नियम है। यह चिरंतन है। यह दर्शन के प्रतिकूल एक और दर्शन है। इसका प्रतिपादन परमेनिडीज ने किया है। इस दार्शनिक का मत है कि परिवर्तन एक भ्रम है, एक धोखा है। समाज में प्रत्येक वस्तुत ज्यों की त्यों रहती है, वह अपरिवर्तन शील है। सामाजिक परिवर्तन के प्रति परिभाषाओं को लेकर विवाद है, फिर भी सामाजिक परिवर्तन में कुछ ऐसे तत्व है जिन्हें अभी समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

सामाजिक परिवर्तन की कुछ विशेषताएं ऐसी है जिनसे कभी समाजशास्त्री सहमत है। ऐसी ही कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख हम यहां करेंगे :-

1. सामाजिक सरंचना में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है : टी.बी. बोटोमोर का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की केन्द्रीय विशेषता सामाजिक परिवर्तन की केन्द्रीय विशेषता सामाजिक संरचना में होने वाला परिवर्तन है। सामाजिक सरंचना अपने आप में बहुत वृहद है। इसके अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं में होने वाले संबंधों और एक संस्था का अन्य संस्थाओं के साथ होने वाला संबंध सामाजिक परिवर्तन की परिधि में आता है इसी सरंचना के आगे सामाजिक मूल्य व मानदण्ड भी होते है।

2. सामाजिक परिवर्तन सामाजिक व सांस्कृतिक दोनों होता है : हाल में जो समाजाास्त्री साहित्य यूरोप से उपलब्ध है, उसमें बोर्डियों, दरीदा, हेबरमास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन समाशास्त्रियों ने पोस्ट मोडरनिटी यानी उत्तर आधुनिकता पर जो कुछ लिखा है उसमें वे कहते हैं कि आज जिस तरह के सामाजिक परिवर्तन को हम देख रहे है वस्तुत: यह सांस्कृतिक परिवर्तन है। इन विचारकों के अनुसार उत्तर आधुनिकता और कुछ न होकर सांस्कृतिक परिवर्तन का एक पेरेडाइम अर्थात् नमूना है। जहां मानवशास्त्रीसामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखते हैं, वहां समाजशास्त्री इसे सामाजिक परिवर्तन की तरह समझते है। संक्षेप में, सामाजिक परिवर्तन की कोख में सांस्कृतिक संबंधों में होने वाले परिवर्तन है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का मतलब मूल्य, मानक, शिक्षा आदि में होने वाले परिवर्तन से है।

3. आम आदमी के संबंधों में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है : समाज में मुट्ठीभर लोगों में, चाहे वे अभिजात, धनाढ्य हों, आने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन नहीं हैं आज हमारे देश में बहुत सीमित लोगां का प्रतिशत हवाई जहजा से यात्रा करता है या मारूति गाड़ी में सैर-सपाटै करता है, इसे सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते। सामाजिक परिवर्तन आम आदमी की परिधि में लेता है। जब सामान्य आदमी बदलाव की अनुभूति पाता है, तब ही इसें सामाजिक परिवर्तन कहते है। सामाजिक परिवर्तन तो औसत आदमी में होने वाला परिवर्तन है।

4. सार्वभौमिक परिवर्तन है : यह निश्चित है कि सामाजिक परिवर्तन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी प्रकृति अनन्त है, जिसका प्रवाह निरन्तर है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो संसार भर के समाजों में देखने को मिलती है। यहां यह अवश्य कहना चाहिये कि सामाजिक परिवर्तन की गति सार्वभौमिक होकर भी सभी समाजामें में समान नहीं होती। महानगरों की तुलना में दूर-दराज के गांवाों में परिवर्तन की गति थोड़ी होती है। इसी तरह विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में परिवर्तन धीमा होता है। उच्च जातियों की तुलना में आदिम समाजों व अनुसूचित जातियों में परिवर्तन की गति धीमी होती है। परिवर्तन की गति को छोड़ दे तो निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया है।

5. सामाजिक परिवर्तन की एक निश्चित गति होती है : उपर हमने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक होकर भी कोई न कोई गति लिये अवश्य होता है। मौअे तौर पर यह कहा जाना चाहिये कि परिवर्तन की जो गति आज से कोई दो दशक पहले थी वह अब बहुत बढ़ गयी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमान के अनुसार किसी भी तकनीकी में बदलाव सात वष्र्ज्ञ से दुगना हो जाता है। एक ही समाज तकनीकी क्षेत्र में परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उसी में सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव बहुत धीरे आता है।

6. सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया के रूप में : समय विज्ञान की तकनीकी भाषा में परिवर्तन एक न्यूट्रल या तटस्थ पद है। इसके साथ में भले-बुरे का कोई बोध जुड़ा नहीं होता। कुछ विचारकों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धांत, दिशा और निरन्तरता नहीं पायी जाती है। निरन्तरता की धारण हम तब देखते है जब हम सामाजिक परिवर्तन को एक प्रक्रिया समझते है। इस सम्बन्ध मे क.े एल.शमार् का कथन बहुत प्रासंगिक है –

एक परिस्थिति में प्रारंभ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन होता है तो हम इसे प्रक्रिया कहते है। संचार, समाजीकरण, व्यवस्थापन, एकीकरण, विघटन, प्रतियोगिता संघर्ष आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के उदाहरण है। प्रक्रिया के अध्ययन में एक अवस्था से दूसरे तक हम संक्रमणों की एक श्रृंखला का अवलोकन करते हैं। प्रक्रिया की दोनों अवस्थाओं की विशेषता का समान होना आवश्यक है। एक ही दिशा का अनुसरण सामाजिक परिवर्तन में नहीं किया जाता हैं प्रक्रिया उपर है। एक ही दिशा का अनुसरण सामाजिक परिवर्तन में नहीं किया जाता है। प्रक्रिया उपर या नीचे की तरफ, आगे या पीछे की ओर, प्रगति या अधोगति की दिशा में भी हो सकती है। अत: प्रक्रिया का तात्पर्य एक निश्चित दिशा परकता के साथ एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर गति से है। प्रक्रियाएं व्यवस्था-समर्थनकारी और व्यवस्था-रूपान्तरणकारी दोनों होती है।

यदि हम परिवर्तन को एक तटस्थ अवधारणा के रूप में लेते है और यह स्वीकार करते हैं कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया मात्र है, तो कहना होगा कि परिवर्तन का तात्पर्य निश्चित रूप से प्रगति या उन्नति नही है। यह अधोगति भी हो सकती है। आज भारतीय समाज में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो क्षरण हो रहा है उसे भी सामाजिक परिवर्तन ही कहेंगे। सामाजिक परिवर्तन की रेखा ऐसी है जो उपर की ओर बढ़ सकती है लेकिन नीचे जाने से कोई इसे थाम नहीं सकता। वस्तुत: समाज में अच्छा हो या बुरा, सभी सामाजिक परिवर्तन है।

7. सामाजिक परिवर्तन में मूल्य बोध होता है : योगेन्द्र सिंह ने भारतीय परम्पराओं के आधुनिकीकरण की व्याख्या में आग्रहपूर्वक तर्क दिया है कि आधुनिकीकरण की अवधारणा में मूल्य ठसा-ठस भरे होते है। विचारधारा का बाहुल्य होता है। इसी अन्दाज में उनका तर्क है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में भी मूल्यों का भरपूर समावेश होता है। मूल्य और मानदण्ड सामाजिक परिवर्तन के बुनियादी आधार है। जब हम कहते है कि किसी समाज में प्रगति हुई है तो इसमें समाज के कतिपय मूल्य निहित है। प्रगति से हमारा तात्पर्य शिक्षा के प्रसार, तकनीकी या अधिकतम प्रयोग, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्थ्ज्ञा, आदि से जुडे हुए मूल्यों से है। जहां कहीं सामाजिक परिवर्तन का मूल्याकंन होता है तो इसे मूल्यांकन का पैमाना मूल्य और मानदण्ड होते है।

8. समय व सामाजिक परिवर्तन सिक्के के दो पहलू है : सामाजिक परिवर्तन और समय एक दसूरे से जुड़े हुए है। जब हम सामाजिक परिवर्तन की चर्चा करते है तो समाज को हम समय में दो विभिन्न बिन्दुओं पर देखते है और उनकी तुलना करने के बाद परिवर्तन के विषय में निष्कर्ष निकालते है।

9. सामाजिक परिवर्तन अचानक भी हो सकता है : यह ठीक है कि सामान्यतया सामाजिक परिवर्तन योजनाबद्ध होता है। हमारे देश में सामाजिक परिवर्तन को पंचवष्र्ाीय योजनाओं द्वारा लाने का प्रयास किया जा रहा है। यूरोप के कई देशों में सामाजिक परिवर्तन को निश्चित योजनाओं के द्वारा अमल में लाया जाता है, लेकिन हमेशा ऐसा होता है, यह नही है। कभी-कभी परिवर्तन एकाएक भी आ जाता है। भूकम्प, महामारी, युद्ध और राज्य क्रांतियों के द्वारा हुए परिवर्तन को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। हमारे देश में महाराष्ट्र के लातूर जिले में भूकम्प ने सामाजिक परिवर्तन ने एक क्रांतिकारी दौरे को प्रसतुत कर दिया। सूरत (गुजरात) में हैजे की महामारी ने, सम्पूर्ण शहर के रख-रखाव में भारी बदलाव पैदा कर दिया। इसत तरह का परिवर्तन बाढ़ के कारण भी आता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

पिछले पृष्ठों में हमने इस तथ्य को बिल्कुल प्रस्तुत किया है कि सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन कभी समाप्त नहीं होता है। इसमें निरन्तरता होती है टी.बी. बोटोमोर ने सामाजिक परिवर्तन की मोटभ्-मोटी प्रक्रियाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक सोशियोलोजी में किया है। उन्होंनें सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा है। वे कहते है कि शुरू से ही समाजशास्त्र का संबंध इतिहास के दर्शन और यूरोपयी समाजों में होने वाले तीव्रतम और हिसांत्मक परिवर्तन से जुड़ा रहा है। देखा जाये तो 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप में जो सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियों हुई, उनका विश्लेषण स्कॉटलैण्ड के इतिहासकारों (फग्र्युसन, रोबेरट्सन) फ्रांस के दार्शनिकों (वोल्टटेयर, टारगेट) और जर्मनी के इतिहासकारों (हेरडर, हीगले) आदि ने इतिहास के सामान्य सिद्धांत में सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं की विशद् व्याख्या की है। इन दार्शनिक और इतिहासकारों का प्रभाव सेण्ट साइमन, बकल, क्रॉम्ट, माक्र्स तथा स्पेन्सर की कृतियों में देखने को मिलता है। माक्र्स और स्पेन्सर के अतिरिक्तदुख्र्ाीम आदि ने भी सामाजिक परिवर्तन की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं में यानि सामाजिक प्रक्रिया किन आयामों में गुजरती है, इसका उल्लेख इन सभी समाजशास्त्रियों ने किया है। मुख्यतया ये सामाजिक प्रक्रियाएं पांच है : 1. उद्विकास, 2. विकास, 3. प्रगति, 4. सुधार तथा, 5. क्रांति है।

उद्विकास

उद्विकास की अवधारणाा का सीधा संबंध जैवकीय उद्विकास से है। 19वीं शताब्दी के समाजशास्त्रीयों ने उद्विकास की अवधारणा का प्रयोग बहुत अधिक किया है। यह सब होते हुए भी इन लेखकों ने उद्विकास में निहित अर्थ को कोई अधिक स्पष्ट नहीं किया है। इन शताम्बदी में प्राणिशास्त्री डार्विन का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों के अतिरिक्त समाज वैज्ञानिकों पर भी बहुत अधिक था। इन उद्विकासवादी प्राणिशास्त्रीयों ने यह स्थापित किया कि मनुष्य का उद्विकास जीवाश्य से हुआ है। ये जीवधारी पानी में निवास करते थे, फिर जमीन पर आये, इसके बाद पेड़ों पर। पेड़ों पर रहने वाले ये वानर गुफाओं में मिले और इस तरह सिलसिले से लाखों वर्षो में चलकर मानव आया। डार्विन ने यह भी स्थापित किया कि वंशानुक्रमण की प्रक्रिया में मनुष्य के शारीरिक लक्षणों में आध्ेा से थोड़े अधिक लक्षण अपने माता-पिता से मिलते है, आधे से थोड़े कम लक्षण दादा, परदादा आदि से मिलते है। इस प्राणिशास्त्रीय उद्विकास का प्रमुख कॉम्ट, माक्र्स, स्पेन्सर और दुख्र्ाीम पर भी पड़ा। सामाजिक उद्विकास को समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक डार्विनवाद का नाम दिया। सामाजिक डार्विनवादियों में वेस्टरमार्क की द हिस्ट्री हा्रुन मेरिज अग्रणी है। इस पुस्तक के तीन खण्ड है और इससे वेस्टरमार्क ने विवाह के उद्विकास को क्रमबद्ध रूप में रखा है।

जिस तहर विभिन्न प्राणियों का उद्विकास हुआ, कुछ इसी तरह स्पेन्सर ने कहा कि सामाजिक संस्थाओं का उद्विकास भी हुआ। स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक सामाजिक स्थैतिक में विस्तारपूर्वक समाज को एक सावयव की तरह उसके उद्विकासीय रूप में रखा है। उन्होंने उद्विकास का तात्पर्य संशोधन के साथ वंश की व्याख्या के रूप में किया है। सामाजिक डार्विनवाद की परम्परा में टाइलर ने भी उद्विकास की अवधारणाा का प्रयोग किया है। हाल में उद्विकासवादियों ने जो कार्य किया है, उसमे वे प्राणिशास्त्रीकय सिद्धांत तथा विभिन्न सामाजिक उद्विकास सिद्धांतों के अन्तर को स्पष्ट करते है। आग्बर्न यद्यपि पूरी तरह से सामाजिक उद्विकास से सहमत नहीं है, फिर भी कहते है कि इस सिद्धान्त ने सामाजिक संस्थाओं के गहन अध्ययन में सहायता दी है। इस पीढ़ी के समाजशास्त्रियों ने यह तो स्वीकार किया है कि प्राणीशास्त्रीय उद्विकास और सामाजिक उद्विकास की धारणाा में अभाव तो बहुत है, फिर भी सामाजिक संस्थाओं के संबंध में हमारी सोच ताकतवर अवश्य बनती है।

विकास

जिस भांति सामाजिक उद्विकास की अवधारणा बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है, ठीक इसी तरह विकास की अवधारणा भी स्पष्ट है। बोटोमोर ने विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसके माध्यम से हम वस्तुओं को पूरी तरह से विकसित अवस्था की ओर ले जाते है। यहां इस अर्थ में भी कठिनाई है। विकास से हमारा क्या तात्पर्य है? कुछ लोग जिसे विकास कहते है दूसरों की दृष्टि में शायद वह पतन है। दृनियाभर में विकास की अवधारणा के अर्थ को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद चल रहा है। आज तकनीकी विकास के युग में बड़े-बड़े बांध बनाये जा रही है, पहाड़ों को भेद कर बड़ी-बड़ी टनेल बनायी जा रही है, गहरे समुद्र में मछलियां पकड़ी जाती है, और ऐसे ही अगणित कार्य विकास के नाम पर किये जा रहे है। सरकारे भी इसे विकास के नाम पर पुकारती है। लेकिन दूसरी और पर्यावरणवादी है जो तथाकथित विकास को केवल पतन या प्रदूषण मानते है। महत्वपूर्ण बात यह है कि विकास के समाज के मूल्य जुड़े होते है तो इसे विकास कहते है। हाल में जो अनुसेधान साहित्य समाजशास्त्र में आ रहा है, उसमें विकास का तात्पर्य औद्योगिकरण, पूंजीवादी, नगरीकरण आदि से लिया जाता है। इस अर्थ में समाज शास्त्री दुनियाभर के समाजों को दो श्रेणियों में बांटते है। एक श्रेणी में वे समाज हैं जो औद्योगिक दृष्टि से बहुत अधिक विकसित है, इनमें यूरोप और अमरीका के देश सम्मिलित है, दूसरी और समाजों की वह श्रेणी है जो प्राय: ग्रामीण और कृषि प्रधान है। पहली श्रेणी के समाजों में जिन्होंने विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है औद्योगिक व आधुनिक है और दूसरी श्रेणी के समाज विकास की दौड़ में लगे हुए है लेकिन इन समाजों की अर्थव्यवस्था अब भी कृषि प्रधान है। इन समाजों में गरीबों की संख्या अधिक होती है।

समाजशास्त्री यह भी कहते है कि विकास की जो प्रक्रिया आज विकासशील देशों में चल रही है वह निश्चित रूप से उन्हीं स्तरों पर, जिन पर विकसित देश चल रहे हैं, चलेंगे। यह भी संभव है कि विकासशील देशों को विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कई अन्य समस्याओं के साथ जूड़ना पड़े। हाबहाऊस ने उद्विकास के स्थान पर सामाजिक विकास की अवधारणाा का प्रयोग किया है। इनके अनुसार सामाजिक विकास की चार मुख्य कसौटिया है। इन कसौटियों को वे विकास के लक्षण मानते है :

मात्रा : यानी संख्यात्मक रूप से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में वृद्धि। हाब हाऊस विकास और वृद्धि दोनों को समानार्थक समझते है।

कुशलता : इसमें उद्योग में कार्यरत लोग कुशल होते है। ऐसे समाज में बौद्धिकों और वैज्ञानिकों विशेषज्ञों का योगदान बहुत अधिक होता है।

पारस्परिकता : विकास में प्रकार्यात्मक होती है यदि कम्पयूटर विज्ञान में विकास होता है तो इसका प्रभाव उत्पादन, सूचना संचयन और औद्योगिक विकास पर पड़ता है।

स्वतंत्रता : विकास समाजों को स्वतंत्रता देता है। विकसित समाज एक सीमा पर पहुंच कर स्वायत्त बन जाते है।

प्रगति

इस अवधारणाा के साथ बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रही है। स्पेन्सर के समय से लेकर आज तक समाजशास्त्रियों का यह प्रयास रहा है कि वे समाजशास्त्र को एक विज्ञान की तरह स्थापित कर सकें। इसी प्रयास में लम्बी अवधि तक समाजशास्त्री समाजशास्त्र को मूल्य विज्ञान बनाने का प्रयास भी करते रहे है। मूल्य मुक्त विज्ञान की अवधारणाा ने प्रगति की अवधारणा का एक तरह से बहिष्कार कर दिया। इस भांति समाजशास्त्र में प्रगति की अवधारणा एक उपेक्षित अवधारणा रही। समाजशास्त्र के पिछले इतिहास में प्रगति की अवधारणा का प्रयोग नहीं के बराकर हुआ है। ऐसा लगता है कि समाशास्त्रियों ने प्रगति की अवधारणा को विकास की अवधारणा के साथ छोड़ दिया है। यहां हम सत्यमित्र दुबे एवं दिनेश शर्मा के कथन को देना प्रासंगिक समझते है :-

प्रगति की अवधारणा पर स्पेन्सर और हाबहाऊस ने विशेष रूप से विचार किया है। स्पेन्सर के चिन्तन में उद्विकास और प्रगति तथा हाबहाऊस के लेखन में विकास और प्रगति की अवधारणाएं मिलीजुली है। अत: इनका विशिष्ट अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। ‘‘प्रगति के सिद्धांत और कारण’’ पर प्रकाश डालते हुए स्पेन्सर का मत है कि पृथ्वी, जीवन, समाज, सरकार, वाणिज्य, भाषा, साहित्य तथा विज्ञान चाहे जिस क्षेत्र में भी हम प्रगति की धारणा परविचार करें, वह सरल से जटिल, कत, विभेदीकृत से अधिक विभदीकृत और सजातीय से विजातीय की ओर बढ़ने की उद्विकासीलय सिद्धांत का ही अंग है। ‘‘प्रगति के साथ नैतिक पक्ष भी जुड़े है’’। हाबहाऊस के अनुसार आर्थिक विकास और कुशलता के बीच नैतिक रूप से पतन संभव है। प्रगति की धारणा नैतिक उन्नति पर बल देती है। परमाणु उर्जा की खोज विकास की सूचक है। लेकिन इसके साथ मानवीय विनाश की जो आशंका जुड़ी है। वह नैतिक पतन की सूचक है।

सुधार

सामाजिक सुधार की अवधारणाा वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन का बोध देती है। यह भी एक सामाजिक प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन की ओर बढ़ती रहती है। जब समाज की परम्परागत व्यवस्था को जान-बूझ कर परवर्तित किया जाता है तो यह सुधार है। यूरापे के इतिहास में पूरी शताब्दी धार्मिक सुधारों की रही। ये सुधार 18वी-19वीं शताब्दी में हुई। कट्टर धर्मावलम्बी कैथोलिक धर्म में किसी भी सुधार को स्वीकार करने के लिये नहीं थ्ज्ञे। इधर दूसरी और प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी यह आन्दोलन उठाये हुए थे कि कैथोलिक धर्म अत्याधिक रूढ़िवादी था और समय के अनुसार उसे बदल जाना चाहिये। धर्म के नाम पर जो आडम्बर थे उनके खिलाफ यूरोप का यह सुधार आन्दोलन था। हमारे देश में भी सुधार आन्दोलन का सूत्रपात लगभग इन्ही शताब्दियों में हुआ। विधवा विवाह को सुधार का एक मुद्दा बनाया गया। यह इसलिये कि विधवाओं का जीवन अपने नाम से एक त्रासदी था। सुधारवादियों ने सती प्रथा के उन्मूलन के लिये भी आन्दोलन किये। इधर गांधीजी ने अछूतोद्धारा के लिये भी आन्दोलन किये। इन अर्थो में सामाजिक सुधार भी एक प्रकार की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है।

क्रांति

तीव्र गति से होने वाले परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। जहां विकास में क्रमबद्ध और निरंतर परिवर्तन होता है, वहां क्राति में तीव्र और अव्यस्थित परिवर्तन होता है। समाज में आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समूह होते है। जब किसी एक समूह में क्रांति होती हे तो इसका प्रभाव अन्य समूहों पर भी पड़ता है। फ्रांस, इग्लैण्ड और रूस की राज्यक्रांतियों ने वहां के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को झकझोर दिया। औद्योगिक क्रांति के जीवन के सभी पहुलओं को प्रभावित किया। ली-ब्रोन ने एक स्थान पर क्रांति का मनौवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस देश में सामाजिक संस्थाएं जितनी अधिक

रूढ़िवादी होगी, उतना ही शीघ्र वहां क्रांति भी होगी।

क्रांति समाज के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है। विज्ञान के क्षेत्र में डीजल इंजिन, नायलोन, टेरेलीन, टेलिवीजन, सेल्यूलर, पेजर आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में किस तरह शीघ्रपात से परिवर्तन कर दिया है वइ हमने छिपा रही है। क्रांति में प्राय: हिंसा का समावेश होता है। पर हमेशा ऐसा होना आवश्यक नहीं है। अहिंसात्मक क्रांति भी होती है और रक्तहीन क्रांति भी होती है। इंग्लैण्ड की क्रांति को इतिहासकार रक्तहीन क्रांति कहते है। हमारे देश में भी ई. 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई, वह भी रक्तहीन क्रांति थी।

सामाजिक परिवर्तन के संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि यह परिवर्तन विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से देखा जाता हैं परिवर्तन में महत्वपूर्ण तथ्य परिवर्तन की गति से जुड़ा है। यह गति ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह गति ही सामाजिक परिवर्तन को उद्विकास, विकास, प्रगति या क्रांति बना देती है। यदि सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं का सावधनीपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो पता लगेगा कि सामाजिक उद्विकास की अवधारणाा का स्वरूप जैविक है। इसमें समाज सरल स्तर से उठकर जटिलता की ओर बढ़ता है। इस सामाजिक प्रक्रिया में स्तरीकरण न्यूनतम होता है और समाज में सजातीयता अधिक होती है लेकिन सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में परिवर्तन तो होता है। यह अवश्य है कि परिवर्तन की गति धीमी होती है।

सामाजिक परिवर्तन् की दूसरी प्रक्रिया विकास की है। यह प्रक्रिया या अवधारणाा अपने स्वरूप् में सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिकीय होती है। शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य में सुधार, आर्थिक उत्पादन में वृद्धि और प्रौद्योगिकी में सुधार विकास के सूचक है। सामाजिक प्रक्रिया का एक और स्वरूप प्रगति का है। प्रगति की धारणा केन्द्रीय रूप से नैतिक है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि उद्विकास और प्रगति के उपरान्त भी नैतिक दृष्टि से समाज नीचे गिर सकता है। आज के आधुनिकरीण के युग में प्रगति की अवधारणा एशि के कई देशों में विवादापस्द बन गयी है।

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का एक व्यापक अवधारणा है। निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन में मूल्य, मानक और वैज्ञानिता होती है। इसकी सामाजिक प्रक्रियाएँ कई स्वरूप धारण करती है। हमने उद्विकास, विकास, प्रगति, सुधार तथा क्रांति आदि सामाजिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। ये प्रक्रियाएं थोड़े बहुत फेर-फेर के साथ सभी देशों में देखने को मिलती है लेकिन परिवर्तन की कुछ सामाजिक प्रक्रियाएं अनिवार्य रूप से स्थानीय होती है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मूल रूप से उद्विकासीय सिद्धांतों और ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा किया जात है। सिद्धांत स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की यह विश्लेषण तार्किक है लेकिन इसमें एक कठिनाई है। प्रत्ये सिद्धांत एक केन्दीय कारक एवं संदर्श से बंध होता है। उदहारण के लिए, ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत केवल आर्थिक कारकों को ही प्रभावी समझते है। गैर-आर्थिक कारक उनकी विषय वस्तु नहीं बनते। ठीक इसी तरह भांति-भांति के उद्विकासीय सिद्धांत केवल उद्विकास को अपने अध्ययन विषय की केन्द्रीय सामग्री समझकर चलते हैं। अत: सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांतों द्वारा विश्लेषण केवल एक सीमा तक ठीक है। इस अभाव की पूर्ति में कुछ लेखकों ने उन कारकों का विवरण दिया है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभवित करते है। इस तरह के संदर्श में एक और कठिनाई भी दूर हो जाती है। एंथोनी गिडेन्स का कहना है कि हाल में कुछ

आधुनिकतम प्रकार के सामाकि परिवर्तन के कारक हमारे सामने आये है जिनकी परिणगति उत्तर औद्योगिक समाज के निर्माण में होती है। इस तरह के कारक महत्वपूर्ण दिशा को बनाते है। इनमें से एक कारक यह भ्ज्ञी है कि आज दुनियाभर में इतिहास का विराम हो गया है। इसकी व्याख्या भी हम सामाजिक परिवर्तन के कारकों से करेंगे। ये कारक इस भांति है :

भौतिक पर्यावरण

राजनैतिक संगठन

सांस्कृति कारक

आर्थिक प्रभाव

प्रौद्योगिकीय कारक

जनानंकिकीय कारक

कानूनी एवं प्रशासनिक कारक

सामाजिक परिवर्तन के सामयिक कारक

भौतिक पर्यावरण

जैसा कि उद्विकासवादियों ने कहा है, पर्यावरण का प्रभाव मानव सामाजिक संगठन के विकास में बहुत प्रभावशाली होता है इस तरह के प्रभाव को तब सरलता से देखा जा सकता है जब पर्यावरण की दशाओं में निकट परिवर्तन आ जाता है। ऐसी अवस्था में मौसम दशाओं के अनुसार लोगों को अपने जीवन को ढालना पड़ता है। उदाहरण के लिये ध्रुवीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग भौतिक पर्यावरण के अनुसार अनिवार्य रूप से अपने जीवन को संचालित करते हैं। बाढ़ आने पर सूखा होने पर लोगों को अपनी जीवन पद्वति में परिवर्तन लाना पड़ता है। यदि हम प्रारंभिक सभ्यताओं के इतिहास को देखें तो ज्ञान होगा कि बड़ी-बड़ी सभ्याताओं का जन्म वहां हुआ है जहां खेती-बाड़ी के लिये उपजाऊ मिट्टी प्राप्त हुई है। सिंधु नदी की घाटी की सभ्यता, दजला फरात नदी की सभ्यता का वोल्गा की सभ्यता पर्याप्त रूप से बताती है कि यहां सभ्यता का विकास हुआ है। मतलब यह कि यदि पर्यावरण धनाढ़य है तो सभ्यता भी पर्याप्त रूप से विकसित होगी। इस तरह सामाजिक परिवर्तन के लाने में पर्यावरण का प्रभाव बहुत अधिक होता है।

इन ऐतिहासिक प्रभावों के होते हुए भी ऐसा नहीं लगता कि भौतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष और सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता हो। यह देखा गया है कि कई बार जब लोगों को प्रौद्योगिकी बहुत निम्न होती है फिर भी सामान्य क्षेत्रों में लोग पर्याप्त विकास कर जाते है। बहुत साफ बात यह है कि भौतिक पर्यावरण सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी तो है लेकिन पर्यावरण और सामाजिक परिवर्तन सीधे या प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हों, इसके प्रमाण हमारे पास बहुत थोड़े है। इस संबंध में एंथोनी गिडेन्स लिखते है :-

उत्पादन व्यवस्था के प्रकारों और पर्यावरण के बीच में भौतिक पर्यावरण में संचार व्यवस्था को भी सम्मिलित करते है। समुद्र, नदी,नाले और पहाड़ प्राकृतिक पर्यावरण के अंग है। पिछले वर्षो में भौतिक पर्यावरण ने लोगों के बीच के संचार को बहुत अधिक प्रभावित किया है। हमारे यहां हिमालय पहाड़ कई सदियों तक हमें एशिया के दूसरे देशों से पृथक करता आया है। यह अवश्य है कि आज कि विकसित संचार व्यवस्था में इस प्रकार का भौतिक पर्यावरण कोई अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं होता।

राजनैतिक संगठन

सामाजिक परिवर्तन को गहराई से प्रभवित करने वाला एक और कारक राजनैतिक संगठन है। शिकार और खा़ संग्राहक समाजों में राजनैतिक संगठन या पद्धति का न्यूनतम प्रभाव देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि इन समाजों में कोई पृथ्क राजनैतिक संगठन नहीं होते तो लोगों में राजनीतिक गतिविधियों पैदा कर सके। शिकार और खाद्य संग्राह समाजों को छोड़कर अन्य सभी समाजों में निश्चित और सुस्पष्ट राजनीतिक इकाइयां होती है – उदाहरण के लिये कबीले के मुखिया, राजा या सरकारें जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती है। जैसा कि माक्र्स का तर्क है कि राजनीतिक व्यवस्थाएं विभिन्न उत्पादन व्यवस्थाओं में एक जैसी नहीं होती। होता यह है कि उत्पादन व्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाएं पाई जाती है। उदाहरण के लिये, छोटे गैर राज्य पशुपालन समाजों में जो उत्पादन व्यस्था हेाती है वह वृहद और राज्य पर आधारित सभ्यताओं से भिन्न नहीं होती। सभी समाजों में राजाओं-महाराजाओं का यह प्रयास होता है कि वे क्षेत्रीय विकास करने का प्रयत्न करते हैं, और इसके परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति सृढ़ढ हो जाती है लेकिन दूसरी ओर ऐसे राजा-महाराज भी होते है जो अपने राज्य के क्षेत्र को बढ़ा नहीं पाते और दूसरे राजाओं के आक्रमण के सामने घुटने टेक देते है। ये सब उदाहरण बनाते है कि कई बार उत्पादन व्यवस्था की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक परिवर्तन को अधिक प्रभावित करती है। राजनीतिक प्रभाव का एक पहलु सैन्य शक्ति भी होती है। बहुत सारे ऐसे राज्य जिन्हें हम परम्परागत राज्य कहते है, बुनियादी रूप से सैन्य शक्ति के कारण ही बदले है। सच्चाई यह है कि उत्पादन के स्तर और सैन्य शक्ति का कोई सीधा संबंध नहीं है। यह संभव है कि अच्छी उत्पादन व्यवस्था में भी सैन्य शक्ति कमजोर हो और कमजोर उत्पादन व्यवस्था में सैन्य शक्ति ताकतवार हो। सामाजि परिवर्तन को किसी भी तरह से सीधा उत्पादन शिक्त् के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

एशिया में राजनीतिक संगठन ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उदाहरण के लिये पाकिस्तान और बांग्लादेश में राज्य व्यवसथा इस्लामपरक है। इन देशों में राज्य का मुहावरा कुरान से प्रेरित है। शराब नहीं पीना, स्त्रियों को निम्न दर्जा देना, मौलवियों को प्रधानता देना, सैन्य शक्ति को बढ़ाना ये सब कारक राजनीति से प्रभावित है। आज भी पाकिस्तान में सैन्य शक्ति और राजनीतिक शक्ति के बराबर टकराव बना हुआ है। सामन्यवादी देशों में – चीन और पूर्व रूस में अब भी माक्र्सवादी विचारधारा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। हमारे देश में पश्चिमी बंगाल की सरकार साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं यहां राजनीतिक व्यवस्था संविधान से नियंत्रित होती है। इस समाज में पंचायती राज, संवैधानिक स्थिति रखता है। हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी मूलभूत अधिकारों के दायरे में चलती है। ये सब तथ्य स्पष्ट रूप से बताते है कि राजनीतिक व्यवस्था और सैन्य शक्ति का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर बड़ी गहराई से पड़ता है। आज तो दुनियाभर के देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था अपने विभिन्न प्रकारों में सामाजिक व्यवस्था बन जाती है। वैसा ही सामाजिक परिवर्तन हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन को दिशा और गति देने का काम एक सीमा तक राजनीतिक व्यवस्था करती है।

सांस्कृतिक कारक

सांस्कृतिक कारकों में धर्म, विचार पद्धति और जन चेतना के प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है। यह कहा जाना चाहिये कि धर्म या तो रूढ़िवादी होता है या सामाजिक जीवन में एक नवीनतमक शक्ति होती है। धर्म के कई ऐसे स्वरूप है। जो सामाजिक परिवर्तन पर अवरोधन का काम करते है और बराबर इस तथ्य पर जोर देते है कि मनुष्य को अपने परम्परागत मूल्यों और कर्मकाण्डों को स्वीकार करके चलना चाहिये लेकिन दूसरी ओर ऐसे दृष्टान्त भी है जिनमें धर्म समाज को तीव्र गति से परिवर्तित करता है। हमारे देश की जनजातियों में धर्म सुधार आन्दोलन ने बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया हैं बिहार के आदिवासियों में बिरसा-मुण्डा ने या दक्षिण राजस्थान के आदिवासियों ने गोवन्द गिरी ने धर्म के माध्यम से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। इस धर्म को मानने वाले आदिवासियों ने मांसाहारी भोजन छोड़ दिया है शराब पीना त्याग दिया है और वे अधिक संख्या

में पूंजीवादी कृषि व्यवस्था के हिमायती हो रहे है।

लेकिन धर्म द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिवर्तन में शायद मेकस वेबर का प्रोटेस्टेन्ट आचार और पूंजीवादी विकास की थीरिस का उल्लेख करना यहां ज्यादा उचित होगा। मेक्स वेबर जर्मन की एक प्रख्यात विचारक थे। वे कार्ल माक्र्स के सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक से हिम्मत नहीं थे। वेबर ने बताया कि ईसाई धर्म के काल्विनादी सम्प्रदाय में ऐसे विचार थे – ऐसे आचार थे जिन्होंने आधुनिक पूंजीवादी को जन्म दिया। वेबर का यह सैद्धांन्तिक योगदान बताता है कि धर्म एक सांस्कृतिक कारक के रूप से सामाकि परिवर्तन लाने का एक शक्तिशाली हथियार है।

यूरोप में बोर्दियों और दरीदा जैसे विचारकों ने यह प्राक्कल्पना रखी है कि आज के युग में भाषा सबसे अधिक शक्तिशाली कारक है। जो सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी है। बोर्दियों का तर्क है कि आज के युग में शक्तिशाली राष्ट्र वही है जिसकी भाषा समृद्ध है। यह भाषा ही है जिसमें दुनियाभर के देशों की सूचनाएं संचयी होती है। यही इसी कारण है कि जर्मनी और फ्रांस जैसे देशों में प्राथमिक विद्यालय का विद्याथ्र्ाी चार-पांच भाषाओं को अनिवार्य भाषा के रूप में पढ़ता है। यह भाषा ही है जिसमें दुनिया के विभिन्न देशों का ज्ञान संचयी होता है। हमारी ऐसी समझ है कि आज के समाजशास्त्र का, विशेष करके यूरोप का प्रभावी मुहावरा सांस्कृतिक कारक है। यह सांस्कृतिक कारक ही इन समाजों को उत्तर आधुनिकता की ओर खींच लाता है।

एंथोनी गिडेन्स सांस्कृतिक कारकों को उनके वृहद् रूप में देखते है। इन कारकों में नेतृत्व भी एक महत्वपूर्ण कारक है। दुनिया के इतिहास में व्यक्तिगत नेताओं ने भी समाज के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका दी है।ऐसे व्यक्तियों में हम आर्थिक नेताओं, राजनीतिक व सैनिक अधिकारियों तथा विज्ञान में अविष्कार करने वाले नेतृत्व को सम्मिलित कर सकते है। धार्मिक नेताओं में विश्व स्तर पर ईसा मसीह, बुद्ध, महावीर स्वामी आदि को सम्मलित कर सकते है। राजनीतिक और सैन्य नेताओं में जुलियस सीजर, महात्मा गांधी और विज्ञान के नेताओं में न्यूटन आदि को सम्मिलित कर सकते है। वह नेता जो कोटि-कोटि लोगों को अपना जनाधार बनाकर चलताा है। सामाजिक परिवर्तन का प्रणेता होता है। ई. 1930 को जर्मनी में हिटलर में ऐसे ही नेता का काम किया। हमारे देश में गांधी जी ने रक्तहीन क्रांति द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फैंका। दुनिया के इतिहास में ऐसे कई दृष्टान्त है जो बताते है कि सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों में नेतृत्व की अगुआई बहुत महत्वपूर्ण होती है। भारत में सामाजिक परिवर्तन के स्त्रोत के रूप में एम.एन. श्रीनिवास ने सांस्कृतिक और जातीय गतिशीलता के महत्व पर जोर दिया है। ‘‘एक जाति के सदस्य एक उच्च जाति या इसके कुछ सदस्यों के आदर्शो और व्यवहारों का अनुकरण कर अपनी स्थिति को उच्च कर सकते है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में संस्कृतिकरणीय जातियां उन परम्परागत व्यवसायों और प्रयासों को तिरस्कृत कर देती है जिनके कारण सदियों तक वे निम्न स्तर पर रही। निम्न जातियों के प्रस्थिति-उन्नयन में शिक्षा, वेतनकारी नौकरियों और शहरों की ओर प्रवसन का भी बहुत योगदान रहा है’’

जब भी निम्न जातियों ने उच्च जातियों के जजमानों और जमींदारों के प्रति अपने परम्परागत कर्त्तव्यों का उल्लंघन किया है, उच्च और निम्न जातियों के बीच तनाव और झगड़े हुए है। निम्न जातियों के प्रयत्नों के प्रति विरोध प्रकट करने के अतिरिक्त, उच्च जातियों ने पअनी जीवन प्रणालियों, उच्च शिक्षा, लाभ की नौकरियों, नगरीय प्रवसन और राजनीति में दखल आदि द्वारा सामाजिक प्रस्थिति के स्नानापन्न आधार ढूंढ लिये है। इन सबका स्पष्ट परिणाम विभिन्न जाति और वर्ग समूहों के बीच सामाजिक और आर्थिक अंतर की निरन्तरता को बनाये रखना है। भारतीय समाज के दलित वर्गो में चेतना उत्पन्न करने के अलावा, सांस्कृति गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन के लिये अव्यक्त अन्त: शक्ति है।

ऑग्बर्न ने सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक विलम्बन की प्राक्कलपना को रखा है। इनका कहना है कि किसी भी संस्कृति के दो भाग होते है : भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति से ऑग्बर्न का तात्पर्य अविष्कारों, नवीनीकरणों आरे प्रौद्योगिकी से है। अभौतिक संस्कृति में सामाजिक मानदण्ड, मूल्य, वैचारिकी, विश्वास परम्परा आदि आते है। आधुनिक समाज में अविष्कार और प्रौद्योगिकी के विकास की तीव्र होती है। दूसरी ओर इसी गति से अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन नहीं आता। इसे ऑग्बर्न सांस्कृतिक विलम्बन कहते है। इसका सीधा अर्थ यह है कि भौतिक परिवर्तन की तुलना में सांस्कृतिक परिवर्तन पिछड़ जाता है। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति नयी से नयी कार खरीद सकता है। लेकिन इस गाड़ी की भी एक अभौतिक संस्कृति है। उसे घनी बस्ती में धीरे चलाना चाहिये। स्कूल या ऐसे ही शांतिपूर्ण स्थानों पर हार्न नहीं बजाना चाहिये। सड़ के बायी ओर चलना चाहिए। पार्क करने के निश्चित स्थानों पर गाड़ी रखनी चाहिये। ऐसे कई अन्य अभौतिक पक्ष है। इसमें होता यह है कि भौतिक भाग तो आगे बढ़ जाते है और इस भाग से जुड़ा हुआ अभौतिक भाग यानि संस्कृति पीछे रह जाती है। यह सांस्कृतिक विलम्बन है। विलम्बन के मुख्य लक्षण है।

भौतिक संस्कृति में तीव्र परिवर्तन

अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन का प्रतिरोध, धीमी गति से परिवर्तन।

भौतिक तथा आभौतिक संस्कृति के संतुन का भंग होना।

अन्त में,भौतिक संस्कृति का आगे बढ़ जाना और अभौतिक संस्कृति का परिवर्तन के प्रतिरोध अथवा धीमे परिवर्तन के कारण पिछड़ जाना।

सांस्कृतिक विलम्बर की अवधारणाा की आलोचना कई विद्वानों ने की है। इस सिद्धांत पर सामान्य आरोप यह है कि इसमें ऑग्बर्न यह स्पष्ट नहीं करते कि संस्कृति के कौन से तत्व पिछड़ जाते है और कौन से आगे बढ़ जाते है। यह सिद्धांत अपने परिवेश में भी बहुत सीमित है।

आर्थिक प्रभाव

यह किसी ने नहीं बताया कि पिछले 200 वर्षो में जब यूरोप में आधुनिकता की प्रक्रिया काम कर रही थी, सामाजिक परिवर्तन की गति अधिक तीव्र क्यो रही? वास्तव में यह मुद्छा बहुत जटिल है, फिर भी यह बताना मुश्किल नही है कि इस परिवर्तन में किन कारकों की भूमिका है। यह आवश्चर्यजनक नहीं है कि कुछ ऐसे कारकों का पता लगाया जा सके कि जो इतिहास में सामाजिक परिवर्तन को समझने में सहायक हो। शायद सामाजिक परिवर्तन को गंभीरता से प्रभावित करने वाला कारक आर्थिक है। यह शायद सामाजिक परिवर्तन को गंभीरता से प्रभावित करने वाला आर्थिक है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्थिक स्तर पर सबसे बड़ा प्रभाव औद्योगिक पूंजीवाद का है। पुरानी उत्पादन व्यवस्था की तुलना में औद्योगिक पूंजीवाद बहुत भिन्न था। यह भिन्न इसलिये है कि इसके माध्यम से उत्पादन का बराकर विकास होता रहता है और धन का संचय निरन्तर होता रहता है। देखा जाये तो परम्परागत उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन का स्तर लगभग स्थिर रहता था। यह उत्पादन अपनी परम्परागत गति से होता था। आज के औद्योगिक पूंजीवाद में स्थिति दूसरे प्रकार की है। नित्य नयी प्रौद्योगिकी आतीर रहती है और इससे उत्पादन की दर में बराबर परिवर्तन आता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। कि तकनीकी और प्रौद्योगिकी का आज जो विकास हो रहा है। उसने पिछले परम्परगात अर्थ व्यवस्था को पूरी तरह से बदल दिया है।

उदाहरण के रूप में मोटरकार उद्योग को देखें। दो-तीन वर्षो में प्रत्येक उत्पादक अपने कार का नया मॉडल ले आता है। भारत जैसे देश में तो नित्य-नित्य कारें आ रही है। ठीक इसी तरह से सूचना प्रौद्योगिकी में बराबर सुधार आ रहा है। पिछले-15 वर्षो में कम्पयूटर का प्रभाव कोई दस हजार गुणा अधिक हो गया है।

परम्परागत समाजों में उत्पादन स्थानीय हुआ करता था। आज इस स्थिति में भी परिवर्तन आ गया है। सच्चाई यह है कि औद्योगिक पूंजीवाद के विकास के साथ आम लोगों की जीवन पद्धति में परिवर्तन आ गया है। आज के आधुनिक समाजों में बहुत अधिक लोग गांवों की अपेक्षा शहर में रहना पंसद करते है। आज का यह औद्योगिक पूंजीवाद, वस्तुत: 19वीं शताब्दी के पूंजीवाद का प्रभाव है। भारतीय समाज इस पूंजीवाद के प्रभाव से अछूता हो, ऐसा नहीं है। माक्र्सवादी उपागम का सार भी यह है। कि भारतीय समाज के लिये भौतिक (मूलत: आर्थिक) अवस्थाएं आधारभूत है और इन अवस्थाओं में परिवर्तन से जीवन के अन्य कार्य क्षेत्रों में स्वत: ही अनुरूपी परिवर्तन संभव हो सकेगा। इस दृष्टिकोण की दो मान्यताएं है : (1) उद्योग और कृषि एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, (2) भारत में कृषि उत्पादन अपने स्वरूप और अन्तवुर्स्त दोनों में पूंजीवादी हे। इन मान्यताओं को आधारित मानते हुए हमें यह देखने की आवश्यकता है। कि एक समूह या वर्ग से अन्य समूह का वर्ग के पास आर्थिक शक्ति हस्तान्तरित होने से कोई संरचनात्मक परिवर्तन हुआ है या नही। क्या प्रौद्योगिकी उपायों द्वारा परम्परागत असमनताएं (जाति, प्रस्थिति और भू-स्वामित्व पर आधारित असमनताएं) अधिक सुढ़ृढ़ हुई है या उनमें महत्वपूर्ण कमी हुई है?

आर्थिक कारक का भारत के सामाजिक परिवर्तन पर जो प्रभाव पड़ा है, उसकी व्याख्या के.एल.शर्मा ने निम्न शब्दों में की है :

भारत में सामाजिक आर्थिक सरचंना में विषमता और सामाजिक तनाव और संघर्षो की विभिन्नता है। भारत एक ऐसा विकासशील समाज है जिसमें पूर्व-पूंजीवाद सामाजिक कोटियां पूंजीवादी श्रेणियों के साथ पायी जाती है। माक्र्स ने मूलत: औद्योगिक समाज की समस्याओं के बारे में विचार अधिक किया है जबकि भारत को आज भी प्रमुख रूप में कृषक अर्थव्यवस्था और आदिम सामाजिक संरचना मान सकते है। भारत एक बहुत ही जटिल और विभेदीकृत समाज है। कृषक वर्ग में विभेदीकरण स्वरून ने स्थितियों को और भी जटिल बना दिया है। बहुत हद तक कृषि उत्पादन प्रविधि अर्द्ध सामन्तीय, अर्द्ध उपनिवेशयी, अर्द्ध पूंजीवादी और गैर पूंजीवादी या पारम्परिक है। जाति और क्षेत्रीय विस्तार के साथ विभेद और अधिक बढ़ जाते है। भारत में कृषि के लिये परिवार श्रम आज भी एक वास्तविकता है।

प्रौद्योगिकी कारक

सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त कारक प्रौद्योगिकी है। पाषाण काल के बाद से लेकर कई प्रौद्योगिकीय क्रांतिया हुई है। क्रांतियों के इस क्रम में भाप का इंजिन आया, उसके बाद कोयला आया। कोयले ने बड़े-बडे भीमकाय कारखाने चलाये। इस क्रांति के बाद बिजली आयी और आज हम सूचना के युग के द्वारा पर खड़े है। इन प्रौद्योगिकीय क्रांतियों ने सामाजिक परिवर्तन को निरन्तर नयी दिशा दी है। प्रौद्योगिकी जनित क्रांति ने सामाजिक क्रांति को जन्म दिया। सामाजिक क्रांति का बहुत अच्छा दृष्टान्त थर्सटीन वेबलिन का विलास यानी फुरत का सिद्धांत है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में प्रौद्योगिकी ने कृषि के क्षेत्र में बहुत बड़ा बदलाव पैदा कर दिया है। हमारें यहा अब खेती में पूंजीवादी आ गया है। इस पूंजीवाद का कारण मुख्यतया हरित क्रांति रहा है। प्रौद्योगिकी के कारण यातायात और संचार व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए है। विकासशील देशों में विद्युतीकरण और सिचाई के कारण ग्रामीण दृश्यपटल बड़ी सीमत तक परिवर्तित हुआ हैं इन देशों में नये वर्ग और सामाजिक संबंध उभरे है। नये औद्योगिक शहरों के कारण वर्ग संबंधों का एक नया प्रतिमान सामने आया है। भारत में जमशेदपुर भिलाई, राऊरकेला और बेकारों सरीखे शहर औद्योगिकरण की प्रक्रिया के उदाहरण है। तीसरी दुनिया के देशों में आज जो परिवर्तन हमें देखने को मिल रहे है इनके कारण सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों और सामाजिक सरंचना में भारी परिवर्तन आये है। विश्व व्यापीकरण या ग्लोबेलाइजेशन ने आज सम्पूर्ण दुनिया को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करने काप्रयास किया है। कम्पयूटर की इंटरनेट व्यवस्था ने दुनिया के विभिन्न भागों को एक सूच के बांध दिया है। इस विशाल संसार को एक केपस्यूल रूप में रखने का प्रयास प्रौद्योगिकी के माध्यम से ही हुआ हैं यह कहना अनुचित नही होगा कि सामाजिक

औरसांस्कृति परिवर्तन में प्रौद्योगिकरण कारक बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

जनांनकिकीय कारक

जनांनकिमी के अंतर्गत हम जनसंख्या,पुरूष-स्त्री अनुपात, औसत आयु:, स्थानान्तरण आदि का अध्ययन करते है। तकनीकी भाषा में जनांनकिकी और जनंसख्या में अंतर है। जनानंकिकी के अंनर्गत जनसंख्या का अध्ययन किया जाता है। अपने आप में जनसंख्या का तात्पर्य तो मनुष्यों की गणना से है। इसके अंतर्गत जन्म-मृत्युदर, बीमारी और स्थानान्तरण का अध्ययन होना है, लेकिन जनंसख्या को जब पुरूष-स्त्री, विवाहित-अविवाहिता, बालक-वृद्ध आदि दृष्टियों से देखा जाता है। तो इसे जनानंकिकी कहते है। उदाहरण के लिये भार में स्त्री-पुरूश के अनुपात को देखें तो पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम है। शायद इसका कारण यह है कि यहां के लोगों में पुत्र जन्म बहुत बड़ी अभिलाभा हैं पुत्र के बिना परिवार का वंशानुक्रम टूट जाता है। बुढ़ापे का सहारा छिन जाता है। ऐसे ही कुछ कारणों से पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या घट गयी है। जनानंकिकी की यही दिशा रही तो सोचना पड़ेगा कि लोग अपने लड़कों के लिये बहू कहां से लायेंगे? जनसंख्या के कुछ ऐसे पहलू है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं।

जनसंख्या वृद्धि जिसे हम कई बार जनानंकिकी विस्फोट कहते है, ने भारत ही चीन के सामने भी सामाजिक व्यवस्था के कई नये प्रश्न खड़े कर दिये है। प्रश्न उठता है : तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये सरकार रोजगार कहां से लायेगी, चिकित्सालय, स्कूल, कॉलेज आदि की व्यवस्था कैसे करेगी? यह प्रश्न एशिया के सभी देशों के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

जनसंख्या में पाने जाने वाले आयु-समूह भी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते है। भारत में बालकों और युवाओं की जनसंख्या सबसे अधिक है। इसका अर्थ हुआ हमें अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देना होगा और बच्चों के पढ़ने के लिये विद्यालय खोलने होंगे। स्वास्थ्य की दृष्टि से, औसत आयु के बढ़ने से वृद्ध उम्र समूह की संख्या अधिक है। इस बड़ी जनसंख्या को रोगमुक्त रखने के लिए अधिक चिकित्सालय चाहिये। शहरीकरण और औद्योगिकरण के कारण जनसंख्या का एक निश्चित भाग तेजी से एड्स रोग की चपेट में आ रहा है। इसका बचाव करने के लिए प्रचारतंत्र की आवश्यता है। देखा जाये तो किसी भी देश के सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने के लिए जनानंकिकीय नियोजन आवश्यक है।

कानूनी एवं प्रशासनिक कारक

एशिया और अफ्रीका के देशों ने हाल में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को अपनाया है। इन देशाों का बहुत बड़ा उद्देश्य राष्ट्र निर्माण है। अपने इस प्रयास में कई देश कानूनी प्रक्रियाओं द्वारा समाज को बदलना चाहते है। यह सही है। कि इन देशों ने जिनमें भारत अग्रणी है, सामाजिक अधिनियम और कानून तो बहुत बनाये है पर उन्हें अमल में लाने का प्रयास केवल दिखावा मात्र है। हमारे देश में बाल विवाह पर रोक है, फिर भी राजस्थान जैसे राज्य में अक्षय तृतीया पर हजारो जोड़े पर अपनी मां की गोद से चिपक हुए सात फेर फिर जाते है। वस्तुत: सामाजिक अधिनियम के लागू न होने की समस्या प्रशासकिन है। लेकिन कानून का होना राज्य के विधानमण्डल की महत्वाकांक्षा को तो बताता है।

हाल के प्रजातांत्रिक देशों ने भूमि सुधार को लेकर कई कानून बनाये है। भारत में तो बंगाल सरकार के भूमि सुधार कानून सबसे अधिक स्पष्ट और क्रांतिकारी है। यह होते हुए भी भूमि सुधारों का प्रभाव कृषकों पर असमान रूप से पड़ा है। इस कानून के बनने पर भी भूमिहीन किसानों को कोई लाभ नहीं मिला है। सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कानून की निश्चित भूमिका हैं

योगेन्द्र सिंह ने कानून के तीन प्रकार्यो का उल्लेख किया है : (1) कानून परिवर्तन का सूचक है। (2) कानून सामाजिक परिवर्तन का प्रवर्तक है और (3) सामाजिक परिवर्तन में समन्वय लाने का काम कानून करता है। योगेन्द्र सिंह कहते है कि भारत में कानून व्यवस्था ऐतिहासिक है। इसकी उपनिवेशक और सामन्तवपादी विरात है। वस्तुत: इस देश का कानून अभिजातपरक कहा जाता है और इसका लाभ सामान्तया अभिजात वर्ग के लोगों और मध्यम वर्गो को मिला है।

यहां यह कहना अनिवार्य है कि श्रीलंका, भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में जो भी प्रचलित कानून है उसका मूल इन देश का संविधान है। यह संविधान प्रजातान्त्रिक होते हुए भी अपने देश की समस्याओं के अनुकूलन होता है। हमारे देश का संविधान सांस्कृति बहुलवाद, जाति आधारित असमानताओं और सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन का उल्लेख भी करता है। इन संवैधानिक सुविधाओं के हेाते हुए भी कई जगह संविधान में विरोधाभास भी है। उदाहरण के लिये, संविधान में कुछ मूल अधिकारों को प्रावधान है परन्तु इन अधिकारों के काम के अधिकार को शामिल नहीं किया है। समाज के निर्धन तबकों के लिये जो आवश्यक है उसे मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया गया है।

प्रत्येक देश की अपनी-अपनी सामाजिक समस्याएं होती है। इन समस्याओं की गहनता को देखकर सामाजिक सुधार के लिये कानून बनाया जाता है। खाडत्री के देश कुरान के संदर्भ में मद्यपान को अनैतिक समझते है। इसी कारण कुवैत, ईरान, इराक, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि देखों ने मद्यपान पर पाबंधी लगा दी है लेकिन इन देशों के पति एक एक साथ अधिकतम चार पत्नियों को रख सकता है। इसके लिये उनके यहां कानून है। भारत की समस्या दूसरे प्रकार की है। यहां कुछ समूहों को छोड़कर (जैसे आदिवासी और मुसलमान) हिन्दू जातियों एक ही समय में एक से अधिक पत्नियां नहीं रख सकती। इसके लिये हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 है। दोसे अधिक संतान होने पर माता-पिता को कतिपय सार्वजनिक लाभ से वंचित किया गया है। हम इस तथ्य पर जोर देना चाहते है कि समाज में परिर्वन लाने का बहुत बड़ा स्त्रोत कानून है और कानून की गंगोत्री हमेशा संविधान होती है।

सामाजिक परिवर्तन का एक ओर स्त्रोत प्रशासनिक है। कई बार प्रशासनिक व्यवस्था जब सावधान होती है, सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रशासकों में परिवर्तन की गति प्रतिबद्धता हो। यदि प्रशासक अपने कर्त्तव्यों की प्रति पांबद हो तो परिवर्तन के प्रभाव अवश्य देखने को मिलते है। हमारे यहां कई राज्यों ने नशाबंदी के प्रयोग किये है लेकिन प्रशासकों की सुस्ती और उनकी भ्रष्टाचार प्रवृत्ति ने इस तरह के प्रयोग को असफल कर दिया है। यह कहा जाता है कि भारत में जितने कानून है।, दुनिया में किसी भी देश में नहीं है। कानून के होते हुए भी जब उनमें अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते तो निश्चित रूप से इसके लिसे प्रशासन उत्तरदायी होता है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या समाजशास्त्रियों ने कतिपय सिद्धांतों के संदर्भ में की है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को हम किस उपागम से देखते है। यह उपागम ही सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत है। उदाहरण के लिये इतिहासकार टोयनबी या समाशास्त्री सोरोकनी जब सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते है तो उन्हें लगता है कि परिवर्तन तो एक चक्र की तरह है। ठीक ऐसे ही जैसे बाल्यावस्था आती है, युवावस्था आती है और अन्त में वृद्धावस्था के बाद शरीर समाप्त हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन को मार्क्सवादी इस संदर्श में नहीं देखते। वे मानते है कि परिवर्तन का बुनियादी आधार आर्थिक संगठन है। इस भांति देखें तो लगेगा कि सामाजिक परिवर्तन एक उपागम है जिसे विभिन्न सिद्धांतों में बांधा गया है। इस संबंध में दूसरी

महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के कई सिद्धांत है। इन सिद्धांतों में सभी सिद्धांत पूर्ण हो, ऐसा कुछ नहीं है। देखा जाये तो कोई भी सिद्धांत अपने आप में पूर्ण नहीं हैं प्रत्येक में कुछ न कुछ अभाव, कमजोरी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए एंथोनी गिडेन्स तो कहते है कि सामाजिक परिवर्तन के जितने भी सिद्धांत है उन्हें दो वृहद श्रेणियों में रखा जा सकता है :

उद्विकासवाद से जुडे सिद्धांत

ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुडे सिद्धांत

उद्विकास से जुड़े हुए सिद्धांत वस्तुत: प्राणिशास्त्रीय परिवर्तन् को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ने वाले है और ऐतिहासिक भौतिकवाद से जुड़े हुए सिद्धांत मौलिक रूप से वे है जिन्हें कार्ल माक्र्स ने रखा है। मार्क्स के बाद भी मार्क्सवादी सिद्धांतवेत्ताओं ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को उसके विभन्न स्वरूपों में रखा है। यहां हम सामाजिक परिवर्तन के इन दो श्रेणियों में बंटे हुए सिद्वांतों का विश्लेषण देगें। उद्विकासीय सिद्धांतों की यह श्रेणी बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत चार सिद्धांत आते है :-

सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत

चक्रीय सिद्धांत

एक रेखीय एवं बहुत रेखीय उद्विकास सिद्धांत

पारसंस का उद्विकास सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के सामाजिक डार्विनवादी सिद्धांत

सिद्धांतों के इस सम्प्रदाय में कई सिद्धान्तवेत्ता सम्मिलित है। इनमें मुख्य रूप से हरबर्ट स्पेन्सर, डार्विन, मेण्डल, हेनरीमेन आदि के नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इन सिद्धांतों का केन्द्रीय बिन्दु समाज का उद्विकास है लेकिन व्यावहारिक रूप से ये सिद्धांत उन्नति के द्योतक है। वास्तविकता यह है कि 19वीं शताब्दी के उद्विकासवादियों ने अपने आपकों विकास के साथ जोड़ लिया। इनका कहना था कि समाज का उद्विकास उच्च नैतिक धरातल पर होता है।

उद्विकासिवादी सिद्धांतों में सामाजिक डार्विनवादी 19वीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण सिद्वांत बन गया। यह सिद्धांत चाल्स डार्विन ने प्राणिशास्त्रीय उद्विकास से बहुत प्रभावित है। इसी कारण इसे डार्विन के नाम पर ही सामाजिक डार्विनवाद कहते है। इस सिद्धांत का तर्क था कि जिस प्रकार प्राणिशास्त्रीय सावयव अपने जीवित हरने के लिए बराबर जुझता रहता है, ठीक इसी भांति मानव समाज भी अपने अस्तित्व के लिये जूझते रहते है। पश्चिमी देशों में आज के समाजों ने इस संघर्ष में अपने आपकों विजयी पाया है इसलिये ये समाज आज भी शीर्ष स्तर पर है। कुछ लेखकों ने सामाजिक डार्विनवाद के विचारों को इस तथ्य के साथ जोड़ा है। कि गोरे लोगों का प्रभुत्व काले लोगों पर है। इस सिद्धांत में सब मिलकर यह स्थापित किया गया है कि यूरोप के लोगों की शक्ति बहुत विशाल थी और गरीब पुरूषों का इसमें कोई स्थान नहीं था। ई. 1920 के दशक तक आते-आते सम्पूर्ण यूरोप में सामाजिक डार्विनवाद का पतन हो गया। सामाजिक डार्विनवाद ही क्यों, सम्पूर्ण उद्विकासवाद का पतन यूरोप में हो गया।

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत को कई बार चक्रात्मक सिद्धांत भी कहते है। इसी तरह के परिवर्तन का स्वरूप किसी वृत्त या घेरे की तरह होता है। परिवर्तन की लम्बी अवधि को ध्यान में रखते हुए प्राय: इसकी व्याख्या चक्रीय रूप में की जाती है। चक्रीय परिवर्तन की प्रक्रिया ऋतुओं में दिखायी पड़ती है। सर्दी के बाद गर्मी, उसके बाद वर्षा और पुन: सर्दी आती है। इस तरह भारतीय भौगोलिक परिस्थितियों के अन्तर्गत मौसम की गति एक चक्र में घूमती है। इसी प्रकार दिन के बाद रात औश्र फिर दिन की प्रक्रिया भी चक्रीय हैं। यह भी प्राय: कहा जाता है कि इतिहास अपनी ही पुनरावृत्ति करता है। ‘‘इतिहास की यह धारणा भी जीवन तथा घटनाओं की व्याख्या एक वृत्त के अन्तर्गत करने की चेष्टा करती है।

अरनाल्ड टोयनबी, स्पेंग्लर, लेविस मम फोर्ड, पट्रिम सोरीकीन जैसे दार्शनिक इतिहासवेत्ताओं व समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण वृत्त तथा चक्र के माध्यम से करने की कोशिया की है।’’ टोयनबी वस्तुत: एक ब्रिटिश इतिहासकार है। उन्होंने अपनी विचारधारा को इतिहास के अध्ययन नामक पुस्तक के लगभग 11 खण्डों में रखा है। उनका तर्क है कि मनुष्य के जन्म की तरह सभ्यता का जन्म भी होता है, वह फलती-फूलती है और अन्त में उसका विनाश हो जाता हैं वे तथ्य देते हुए कहते है कि दुनिया में कुल 21 सभ्यताएं थी। इन सभ्यताओं में आज केवल पांच सभ्यताएं जीवित है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यातएं भी जन्म लेती है और लम्बी अवधि में जाकर मर जाती है। आज की पश्चिमी सभ्यता टोयनबी का तर्क है, पतन के कगार पर खड़ी है। सभ्यताएं भी बदलती है, उनमें भी परिवर्तन आता है और इस परिवर्तन का प्रकृत्ति चक्रीय होती है।

टोयनबी ने प्रश्न रखा कि 21 सभ्यताओं में केवल 5 सभ्यताएं जीवित ही जीवित क्यों है। वे मुनष्य के सम्पूर्ण इतिहास की गहरी पड़ताल करते है और कहते है कि किसी सभ्यता का जन्म तब होता है जब पर्यावरण अपने निवासियों की चुनौती देता है और निवासी उकसा प्रत्युत्तर इस तरह देते है। कि इससे नयी चुनौती पैदा देता है और प्रत्युत्तर का सिलसिला जब तक निरन्तर रूप से चलता रहता है, सभ्यता आगे बढ़ती रहती है। जब चुनौत्ी का प्रत्युत्तर नहीं आता तो समझिये कि सभ्यता विनाश के कगार पर आ गयी है उसी चिता सजा दी गयी है। चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में स्पेंग्लर का नाम भी महत्वपूर्ण है। स्पेंग्लर ने विभिन्न सम्भ्याताओं की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला कि आज पश्चिमी सभ्यता अपने पतन की अवस्था में है। इसकी सांस फूल गयी है। इसकी मौत के बाद किसी अन्य सभ्यता का जन्म होगा। जैसे शरीर क्षणभंगुर है, कुछ वैसे ही सभ्यता का जन्म लेने के बादइ विनाश को प्राप्त होती है।

सोरोकिन चक्रीय सिद्धांतवेत्ताओं में एक उल्लेखनीय हस्ताखर है। उन्होंने अपने सिद्धांत को पुस्तक के तीन खण्डों में रखा है। उनका सरोकार वृहद स्तर पर होने वाले सांस्कृति परिवर्तन से है। उनका उपागम सांसकृतिक मनोवृत्तियाँ है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्तियां है। यदि सांस्कृतिक मनोवृत्ति की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक सभ्यता का उद्रम होता हैऔर निश्चित रूप से उसका पतन भी होता है इन सांस्कृतिक मनोवृत्तियां में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें सोरोकिन ने द: सोपानों में रखा है :

ऐसे परिवर्तन जो समय और स्थान की दृष्टि से अजीब होते है।

ऐसे परिवर्तन जिनकी बराबर पुनरावृत्ति बनी रहती है।

अनुरेखीय परितर्वन।

घटने-बढ़ने वाले परिवर्तन।

सर्पिल परिवर्तन।

शाखन रूप से होने वाले परिवर्तन।

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत अत्याधिक जटिल है। वे अपने सिद्धांत की केन्द्रीय इकाई सांस्कृतिक मनोवृत्तियों को मानते है। वास्तव में सोरोकिन जब सामाजिक परिवर्तन के उपागतम को निश्चित करते है तो एक ओर तो वे वस्तु के इन्द्रियज्ञान को लेते है और दूसरी और उसकी मनोवृत्ति को। इस दृष्टि से वे संस्कृति की तीन श्रेणियां पाते है :-

इन्द्रियपरक संस्कृति

संस्कृति का यह वह भाग है जो भौतिक आनन्द प्रदान करता है। यह संस्कृति मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। और इसके माध्यम से व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति में इसे भोग कहते है। भावात्मक वस्तुएं जैसे सौन्दर्य बोध, कला आदि भी इसी संस्कृति में निहित है। संस्कृति के इस भाग का इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। दूसरी ओर वे वस्तुऐ जो इन्द्रिय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, इस संस्कृति की परीधि से बाहर आ जाती है। इन्द्रियपरक संस्कृति वस्तुत: जमीन से जुड़ी हुई संस्कृति है, जिसे यथार्थ संस्कृति भी कहा जा सकता है। इस संस्कृति का मूल्याकंन भौतिक सुख के मानदण्ड से किया जाता है। मर्टन की व्याख्या के अनुसार इस संस्कृति का उपभोग अधिक से अधिक तकनीकी साधनों के माध्यम से किया जाता है। प्रौद्योगिकी इन्द्रियपूरक संस्कृति को प्राप्त करने का साधन होती है जिसे आम आदमी उपभोक्ता संस्कृति कहता है, वह वास्तव में इन्द्रियपूरक संस्कृति है।

विचारणात्मक संस्कृति

संस्कृति का यह भाग इन्द्रियपूरक संस्कृति के विपरीत है। इस संस्कृति से जुड़ा हुआ समाज ईश्वरीय व आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाता है। यह संस्कृति अंतिम सत्य की खोज में सलंग्न होती है। हमारे सजाम में इस संस्कृति का अनुायायी सन्यास और वानप्रस्थ सिद्धांतों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। विचारात्मक संस्कृति की अवसथा में समाज उपयोगियतावाद के स्तर से उपर उठ जाता है, न ही वह नवीन आविष्कारों के साथ अपने आपकों जोड़ता है। कला, साहित्य, आर्थिक, राजनीतिक व व्यावहारिक व्यवस्थाएं सभी धर्म, आचार शास्त्र व ईश्वर से ओतप्रोत होती है। संस्कृति के इस भाग को लक्ष्य ऐहिकपरकता से दूर हटकर शाश्वत सत्य की ओर जुड़ा होता है।

आदर्शवादी संस्कृति

सोरोकिन संस्कृति के इस भाग को इन्द्रियपूरक व विचारानात्मक संस्कृति का मिला जुला रूप मानते है। इसमें आदर्शवादी संस्कृति और भौतिक सुखाओं तथा आध्यात्मिक चिंतन का समन्वय होता है। इसमें विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य और आधायत्म किसी की भी उपेक्षा नहीं की जाती। ज्ञान का उपभोग होता है, वह केवल ज्ञान प्राप्ति हेतु नहीं होता।

सोरोकिन ने संस्कृति के इन तीन आयामों को चक्रीय रूप में प्रस्तुत किया है। वे इस सिद्धान्त को प्रस्तत करते हुए दो बुनियादी प्रश्न रखते है : (1) संसार में अंतिम सत्य क्या है? (2) जीवन के सर्वोच्च मूल्य क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उन्होंने तीन उत्तर दिये है। पहला उत्तर तो यह है कि जिस किसी की हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है, वह सत्य है। इस अर्थ में मोटरगाड़ी, कारखाना, गरीबी, शिक्षा ये सब तत्व सत्य है क्योंकि इनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति होती है वह सत्य नहीं है। वह तो केवल मोह है, माया है, एक प्रकार का भ्रम है। मकान, कारखाने, जेवर, वस्त्र सभी नष्ट हो जायेंगे। इनमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है अत: यह सत्य नहीं हो सकते। सोरोकिन का तीसरा उत्तर यह है कि जो इन्द्रिय बोधक है और वह भी जो इन्द्रियाजीत है, दोनों सत्य है। दूसरे शब्दों में जिसे हमे इन्द्रियों द्वारा देखते है वह भी सत्य है और जिसकी अनुभूति इन्द्रियों द्वारा नहीं होती, वह भी सत्य है।

“दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले प्रश्न के उत्तरों पर निर्भर करता है। सत्य इन्द्रिपरक वस्तुओं को ही माना जाता है तो सर्वोच्च मूल्य खाओं, पीओं व मौज उड़ाओं को ले सकते है। वह संस्कृति जिसका आधार ये मूल्य है उसे सोरोकिन ने इन्द्रियपूरक संस्कृति कहा है। इस संस्कृति में समाज व समुदाय भौतिक वस्तुओं के उपभोग व विज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्ति को महत्व देता है। जब इन्द्रियपूरक बोध को असत्य माना जाता है, व सत्य की परिकल्पना शाश्वत रूप में की जाती है तब सर्वोच्च मूल्य त्याग और इस जगत में पलायन की ओर जाते है। जगत को मिथ्या समझा जाता है अत: व्यक्ति भौतिक उपयोगों से बचकर एकान्त की इच्दा रखते है। भारतीय दर्शन में शंकाराचार्य का दृष्टिकोण इसी प्रकार का था। ऐसे मूल्यों को स्वीकृत करने वाली संस्कृति को सोरोकिन ने विचारणात्मक संस्कृति कहा है।

तीसरे, सत्य ही दोनों ही स्वरूपों में देखा है। जो इन्द्रियपरक बोध है वह भी सत्य है और जो इन्द्रीयतीत बोध है वह भी सत्य है। ऐसी संस्कृति में भौतिक जीवन के उपभाग को निर्लिप्त भाव से भोगने के मूल्य सर्वोपरि बन जाते है। गीता का कर्म दर्शन, जिसके अन्तर्गत फल की आशा किसये बिना कर्म करने की व्यवस्था है, इस श्रेणी में आएगा। ऐसी संस्कृति को सोरोकिन ने आर्दशवादी संस्कृति कहा है।”

सोरोकिन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत चक्रीय इसलिये है कि मानव संस्कृति के इन भागों को सिलसिले से अपनाता है। आज का समाज और विशेष करके पश्चिमी समाज इन्द्रियपरक संस्कृति की कगार पर खड़ा है। सोरोकिन का कहना है कि संस्कृति के ये प्रकार चक्र की तरह कालान्तर में भी घूमते रहेंगे।

सामाजिक परिवर्तन के एक रेखीय व बहु रेखिक उद्विकासीय सिद्धांत

पिछले पृष्ठों में हमने उद्विकास सिद्धांतों का उल्लेख किया है। इनमें अब हम आखिरी सिद्धांत एक रेखिक और बहु रेखिक का उल्लेख करेंगे। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं में कॉप्ट, स्पेन्सर और हॉबहाऊस का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। एक रेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का महत्व विशेषकर 19वीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यदि इस शताब्दी को हम उद्विकासीय सिद्धांतों की शताब्दी कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस उद्विकासवादियों का आग्रह है कि मनुष्य समाज का विकास एक निश्चित रेखा में हुआ है। उन्होंने यह कहा कि दुनियाभर के समाजों के विकास की दशा एक ही रही है। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए हैं। इस एक रेखिक विकास में समाज सामान्य अवस्था से जटिल अवस्था की ओर विकसित हुए है। दूसरे शब्दों में यदि कोई समाज उद्विकास के सोपान में ऊपर चढ़ना चाहता है तो उसकी दिशा, उद्विकासवादियों का कहना है, निश्चित है सामान्य से जटिल। उदाहरण के लिये चाहे यूरोप के समाज में रहें हो या चीन के, उद्विकास के सोपानों में ये सभी समाज पहले कबीले थे, फिर आदिम समाज बने और फिर मध्य समाज। अर्थ हुआ : उद्विकासीय समाज निश्ि्चत रूप से सामान्य से जटिल की ओर बढ़ता है-यांत्रिक अवस्था से सावमयी अवस्था की ओर जाता है। अगस्ट कॉम्प ने सबसे पहली बार बौद्धिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है। ये स्तर इस प्रकार है

धार्मिक अवस्था

तात्विच या गुणवादी अवस्था

प्रत्याक्षदी अवस्थ्ज्ञा

मेलिनोस्की और रेडिक्लिफ ब्राउन ने आदिम समाजों से जुड़ी हुई पर्याप्त एथनिक जानकारी हमारे सामने रखी है। यह तथ्य सामग्री बहुत मूल्यवान है। इस अवस्था में व्यक्ति किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्तर पर सोचता था। इस ज्ञान की व्याख्या वह ईश्वर तथा हमारे देश में वेदों के आधार पर करता थ्ज्ञा। यह विचार और सोच की धार्मिक अवव्स्था थी। कॉम्प के अनुसार उद्विकास की दूसरी अवस्था तात्विक थी। इस अवस्था में पहुंच कर समाज वस्तुओं को उनके गुण-दोष के आधारों पर देखता था। उद्विकास की सामाजिक प्रक्रिया में प्रत्यक्षवाद आया। प्रत्यक्षवाद प्रस्तुत: विज्ञानवाद है। इसका आग्रह है कि जिस भांति समाज में वस्तुओं का उद्विकास होता है, वैसे ही सामाजिक संस्थाओं का भी उद्विकास होता है। 19वीं शताब्दी के एक रेखिक उद्विकास का महत्व अधिक दिन नहीं चला। हाल के पिछले कुछ दशकों में एक रेखिक उद्विकास सिद्धांत की कटु आलोचना हुई। यह समझा जाने लगा कि सभी समाजों का विकास एक ही रास्ते में हुआ हो, ऐसा नहीं है। सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक समाज के विकास का रास्ता नहीं रहा है। इतिहास बताता है कि यूरोप में इसकी समाप्ति बहुत पहले हुई। बहुरेखयीय सिद्धांतवेत्ताओं में लेन्सकी और लेन्सकी ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य पर जोर दिया है कि समाजों के विकास की रेखा एक ही नहीं होती, कई रेखाएं होती है-कई पथ होते है। इस विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के समाजों की पहचान की जा सकती है औश्र इन समाजों के स्तरीकरण के आधार पर सरलता से जटिलता विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है।

बहुरेखिक सिद्धांतवेत्ताओं का एक और तर्क यह भी है कि सामाजिक परिवर्तन का केन्द्रीय तत्व यह है कि समाज के सदस्य कितनी तत्परता से पर्यावरण के साथ अनुकूलन करते है। इस अनुकूलन की प्रक्रिया में यह संभव है कि कुछ समाज सरलता से सफल हो जाएं और कुछ को सफल होने में लम्बी अवधि लग जायें। इसी कारण बहुरेखयी सिद्धांतवेत्ता एक रेखिक सिद्धांतों की प्रासंगिकता को संदेह की दृष्टि से देखते है।

सामाजिक परिवर्तन के पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत

उद्विकासीय सिद्धांतों की श्रृंखला में पारसंस का उद्विकासीय सिद्धांत हाल के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामान्यता उद्विकासवादी सिद्धांतवेत्ताओं का संदर्श प्रकार्यात्मक होता है। पारसंसस भी प्रकार्यवादी है। उनका सुझाव है कि सामाजिक उद्विकास और कुछ न होकर प्राणिशास्त्रीय उद्विकास है। सामाजिक और प्राणिशास्त्रीय उद्विकास को समझने के लिए पारसंस ने उद्विकासीय सार्वभौम की अवधारणा को रखा है। इस अवधारणा का तर्क यह है कि विकास के कुछ ऐसे प्रकार है जो विभिन्न दशाओं में सभी समाजों को देखने को मिलते है। विकास के इन प्रकारों को ही पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि कुछ सामाजिक संस्थाएं इतिहास के क्रांतिकारी करवटों के लेने पर भी जीवित रहती है। इन्हीं को पारसंस उद्विकासीय सार्वभौम कहते है।

पारसंस ने सार्वभौम की पहचान की है। ये सार्वभौम सभी समाजों में देखने को मिलते है। इन सार्वभौमों ने पहला सार्वभौम, उदाहरण के लिये दृष्टि है। दृष्टि का अर्थ वस्तुओं को देखने की शक्ति है। यह दृष्टि मनुष्यों में नहीं, सम्पूर्ण पशु दुनिया में देखने को मिलती है। देखने के इस सार्मथ्य ने पशु और मनुष्य दोनों को अनुकूलन करने की शक्ति दी है। मनुष्य विकास की अवस्था में सबसे अधिक विकसित जानवर है। उसमें देखने की जो क्षमता है वह उसे अधिक अनुकूलन करने की शक्ति देता है।

सार्वभौम तत्वों से दूसरा तत्व संचार का है। पारसंस कहते है कि संचार सभी मनुष्य सांस्कृतियों में देखने को मिलता है। बिना भाषा या बोली के संचार नहीं हो सकता इसलिये सभी समाजों में भाषा सार्वभौम है जो उद्विकास को विकास के रास्ते की ओर ले जाता है। पारसंस कहते है कि तीन और सार्वभौम है जो बहुत प्राचीन है और सभी समाजों में पाये जाते है। ये सार्वभौम है, धर्म, नातेदारी और प्रौद्योगिकी। इस तरह कुछ मिलाकर पारसंस कहते हैं कि सभी समाजों में चार सार्वभौम पाये जाते है : (1)

दृष्टि (2) संचार (3) भाषा (4) धर्म (5) नातेदारी, और (6) प्रौद्योगिकी। ये सार्वभौम इतने महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है कि इनके अभाव में सामाजिक उद्विकास आगे नहीं बढ़ सकता।

पारसंस के उद्विकास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक उद्विकास का कोई भी विश्लेषण तब तक अधूरा है जब तक हम सरल से जटिल की प्रक्रिया को नहीं समझते यानी यह नहीं जानते कि समाज सतीतयता के स्तर से विजातीयता की ओर बढ़ता है। समाज ज्यों-ज्यों सामाजिक उद्विकास के स्तर की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसमें अधिक से अधिक स्तरीकरण आता है। स्तरीकरण का मतलब हुआ समाज का सरल स्तर से जटिल स्तर की ओर बढ़ना।

पारसंस ने समाज के उद्विकास के सोपानों की पहचान की है। पहला सोपान जैसा कि हमने उपर कहा है कि उद्विकासवादी सार्वभौमों का है। उद्विकासवादी सार्वभौमों के लक्षण भी पारसंस ने पहचान लिये है। उद्विकासवादी सोपान का दूसरा स्तर उच्चतम आदिम समाज का है। इस प्रकार के समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था समाप्त हो जाती है और समाज समतावादी बन जाता है। उच्चतर आदिम समाज में प्राय: एथनीक यानी संस्कृति और वर्ग पाये जाते है। ये वर्ग उत्पादन व्यवस्था को निश्चित करते है और इस तरह लोग अपना जीवनयापन करते है। उच्चतर समाज में धर्म तो होता पर इसका संबंध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं से नहीं होता। उद्विकास के दौर में पारसंस कहते है। मध्यस्तरीय समाज का उद्गम होता है। इस तरह के मध्यस्तरीय समाजों को इतिहासकार सभ्यता का परम्परागत समाज के नाम से पुकराते है। ऐसे समाजों में मिस्त्र, चीन और भारत का नाम लिया जाता है। इन सभ्यताओं में या मध्यस्तरीय समाजों में लिखना और पढ़ना आ जाता है। धर्म नयी दिशाओं को ग्रहण कर लेता है, इसका अर्थ राजनीति से जुड़ा जाता है। राजनैतिक नेतृत्व का विकास सरकारी प्रशासन के साथ हो जाता है।

पारसंस के उद्विकासीय सिद्धांत ऊंचा स्थान औद्योगिक समाजों का है ऐसे समाजों में आन्तरिक विभेदीकरण या स्तरीकरण अत्यधिक मात्रा में होता है। इन समाजों में आर्थिक और राजनैतिक जीवन एक दूसरे से बहुत अधिक पृथक होते है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था इस समाज में एक व्यापक बन जाती है। पारसंस के सैद्धांतिक विश्लेषण में समाजों का उद्विकास जिस तरह से हुआ है वह सरल से जटिल की ओर है।